कर्मादान एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं है

त्याग के उत्कृष्ट निदर्शन-नमूने के रूप में जैन धर्म को मान्यता मिली है। जहां कहीं भी त्याग की चर्चा होती है, जैन साधना पद्धति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैन साधना का मूलाधार रही है– अहिंसा। अहिंसा की सूक्ष्मता, गहनता और विशालता के सभी आयाम जैन धर्म ने खोले और खंगाले हैं। इस आलोड़न-विलोड़न की प्रक्रिया के कारण ही जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा को दो तरह से विभाजित किया है और उनके पालन कर्ताओं का स्वरूप निर्धारण भी किया। सूक्ष्म और स्थूल दो तरह की अहिंसा जैनों ने मानी और अहिंसा के अधिकारियों का निर्धारण करते हुए कहा कि सूक्ष्म-स्थूल दोनों तरह की अहिंसा के पालक होते हैं– साधु-साध्वी तथा स्थूल अहिंसा के पालक होते हैं– श्रावक और श्राविका। जिन प्राणियों को समग्र संसार जीवित समझता है, उनकी हिंसा न करना, रक्षा करना स्थूल अहिंसा है तथा जिन जीवों की जीवन्तता मात्र केवल ज्ञान या वैज्ञानिक उपकरणों द्व ारा ही मानी जा सके, उनकी हिंसा टालना, रक्षा करना सूक्ष्म अहिंसा है। चलने फिरने वाले त्रस प्राणियों की हिंसा से बचना स्थूल अहिंसा है तथा एकेन्द्रिय स्थावर जीवों–पृथ्वीकाय, अप्काय तेजसूकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की रक्षा करना, रक्षा करने का प्रयत्न करना सूक्ष्म अहिंसा है। श्रावक धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति की विवशता ये है कि वह सूक्ष्म कोटि की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। अतः जब वह अपने व्रतों की प्रतिज्ञा करता है तो कहता है कि *"थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं"* अर्थात मैं स्थूल प्राणातिपात से विरत होता हूँ।

साधारण जीवनचर्या में तो श्रावक को इस अहिंसा के पालन में कोई विशेष बाधा नहीं आती क्योंकि उसका खान पान रहन सहन सादगीपूर्ण होता है। परन्तु जब व्यवसाय कारोबार का प्रश्न खड़ा होता

है तब वह कभी-2 स्थूल अहिंसा का पालन करने में भी अपने को विवश पाता है। उसके सामने आजीविका सबसे मुख्य समस्या है। अपने व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद को, भोग परिभोग को, सीमित-अतिसीमित कर सकता है पर सकल परिवार की आवश्यकताओं, इच्छाओं, अरमानों की अनदेखी कैसे कर सकता है। उनकी पूर्ति के लिए उसे अर्जन के पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती हैं। अतः कमाई जैसे भी हो वह करने लग जाता है। इस विषय में भी भगवान महावीर ने श्रावकों को विवेक का रास्ता दिखाया है। उन्होंने अपने युग में प्रचलित 15 विशेष व्यवसायों को जैन श्रावक के लिए वर्जित किया है। जिन्हें प्राचीन भाषा में 'कर्मादान' कहा जाता है।[1]

श्रावक जीवन के मुख्य प्रतिपादक आगम 'उपासक दशांग' सूत्र में 15 कर्मादानों को सातवें गुणव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत के उपभेद के रूप में व्याख्यायित किया है, मुख्य अंग के रूप में नहीं तथा उपभेद भी प्रतिज्ञा रूप न होकर अतिचार रूप में प्रस्तुत है। अतिचार व्रतों को दुर्बल और मलिन बनाते हैं, व्रतों को खण्डित नहीं करते, अतिचार सेवन के बाद प्रतिक्रमण से शुद्धि सम्भव है, अनाचार सेवन से प्रायश्चित लेना होता है। पन्द्रह कर्मादान अतिचार रूप हैं, अनाचार रूप नहीं।

आगमिक स्थलों का सरसरी अवलोकन करते ही एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि 15 कर्मादानों को छोड़ने के लिए आगमकारों का बहुत अधिक दबाव नहीं रहा। प्रत्याख्यान अनिवार्य नहीं, पर अभीष्ट था क्योंकि श्रावक वृति के लिए अनिवार्य पांच अणुव्रतों में उन्हें न प्रत्याख्यान रूप में गिनाया, न अतिचार रूप में। अर्थात् कर्मादान त्याग श्रावक के मूल गुणों (Basic tenets) का नहीं उत्तरगुणों (Supplementary tenets) का हिस्सा रहे हैं और इसकी झलक तत्त्वार्थ सूत्र में भी मिल रही है। वहां सातवें अध्याय में सम्यक्त्व, 12 व्रत, संलेखना के पांच अतिचार तो लिखे हैं पर 15 कर्मादानों की

1 कुछ आचार्यों ने कर्मादान का अर्थ कर्मबन्ध का कारण-भूत तत्व किया है, जबकि इसका शाब्दिक और सीधा सा अर्थ है काम धन्धा और कारोबार। कर्म=काम, आदान=अपनाना या स्वीकार करना।

कोई चर्चा नहीं है। दिगम्बर परम्परा में भी 15 कर्मादानों के त्याग को लेकर प्राचीन आचार्यों ने कोई सूचना नहीं दी।

आचार्य समन्त भद्र-कृत रत्न करण्ड श्रावकाचार में इनका कोई उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर विभाजन तक कर्मादानों के प्रति जैन धर्म में गम्भीर विचार नहीं चला होगा, अन्यथा प्राचीन दिगम्बर साहित्य इस बहुमूल्य चिन्तन की उपेक्षा नहीं करता। दिगम्बर परम्परा में आधुनिक चिन्तकों ने व्यवसाय शुद्धि को अच्छी तरह से अपनाया है। वह श्वेताम्बरों की चिन्तन धारा का सकारात्मक प्रभाव है लेकिन उन नव चिन्तकों ने व्यवसाय शुद्धि को भोगोपभोग परिमाण व्रत के साथ नत्थी न करके अनर्थदण्ड विरमण व्रत के 'हिंस्र प्रदान' अतिचार के विस्तार में सम्मिलित किया है। उपासक दशांग के टीकाकार अभय देव सूरि ने अतिचार के बारे में कहा है *"अतिचारता चास्य कृतैतत् प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रैव वर्तनात्"* अर्थात् यदि अनाभोग-असावधानी से अनाचार का सेवन हो भी जाता है तो श्रावक अपने व्रत में रहता है, व्रत से च्युत नहीं होता।

प्रारम्भ में कर्मादानों में केवल वही व्यवसाय परिगणित किए गए थे जिनमें बहुलता से मनुष्यों, और पशुओं का दोहन व शोषण होता था, जिनमें सामाजिक सदाचार मर्यादाओं का विलोप होने का खतरा था। जैनत्व और श्रावकत्व का लेबल लगाने वाले धार्मिक व्यक्तियों से इतनी तो अपेक्षा की ही गई कि वे इस तरह के धन्धे से तो किनारा करें ही, जिनमें पंचेद्रिय प्राणियों का जीवन नष्ट होता हो। साथ ही साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि त्रसजीव भी बहुत संख्या में मरते हों, ऐसे व्यवसाय भी श्रावक के लिए अस्वीकारणीय घोषित किए गए। एकेन्द्रिय जीवों की अल्प या अधिक अहिंसा को ध्यान में रखकर कर्मादानों का विधान नहीं किया गया। श्रावकों की कोई भी व्यवस्था भगवान महावीर के युग में एकेन्द्रिय केन्द्रित नहीं रही। इस धर्म को मानने वाले क्षत्रिय राजा, सार्थवाह, श्रेष्ठी, सुसमृद्ध-कृषक, विदेश-व्यापारी वैश्य रहे थे। ये लोग अपनी गृहस्थ-व्यवस्था को सुचारु

रूप से चलाने तथा समाज में प्रतिष्ठित बनने के लिए बड़े-2 व्यापार करते थे जिनमें एकेन्द्रिय हिंसा को टालना अशक्य था। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए श्रावक को एकेन्द्रिय हिंसा के त्याग के लिए बाध्य नहीं किया गया और इसलिए भगवान महावीर के श्रावकों का जीवन बिल्कुल सहज और जनसामान्य से जुड़ा रहा था।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णन है कि पालित चम्पा पुरी नगरी से पिहुण्ड नगर में समुद्री जहाज से गया था, वह भगवान महावीर का श्रावक था। समुद्री जहाज से व्यापार करने वाले व्यक्ति से एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा की अपेक्षा करना अव्यावहारिक ही है। ज्ञाता धर्म कथांग में मल्लिज्ञात के प्रसंग में– अर्हन्नक जैसा उच्च कोटि का श्रावक भी समुद्री यात्राएं करता ही था। उपासक दशांग सूत्र में आनन्दादि दस श्रावकों के वैभव और त्याग का बड़ा हृदयंगम चित्रण प्रस्तुत है।

अधिकांश श्रावकों के पास 12 क्रोड़ सुवर्ण मुद्राएं है तथा 40 हज़ार से लेकर 80 हज़ार तक पशु हैं। चूंकि प्रत्याख्यानों का लेखा जोखा केवल आनन्द श्रावक के पाठ में दिया हुआ है अतः शेष 9 श्रावकों के प्रत्याख्यान 'जहा आणंदे' आनन्द की तरह मान लिये जाते हैं। इस आधार पर अधिकांश श्रावकों के पास 1000 गाड़ियां और 8 जहाज़ थे। आधी गाड़ियां और जहाज़ सवारी के लिए तथा आधी भार वहन के लिए। पांच सौ हल प्रमाण भूमि उनके पास थी। इतनी विशाल भूमि, इतना विस्तृत व्यापार, इतनी अधिक विदेश गमन सामग्री, इतने विपुल पशुधन आदि के स्वामी श्रावक क्या पृथ्वी को नहीं खोदते खुदवाते होंगे, कृषि नहीं करते होंगे, जल का पर्याप्त प्रयोग नहीं करते होंगे, फसल आदि के बोने काटने से सम्बद्ध नहीं रहते होंगे?

सब कुछ करते होंगे क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के लिए उनकी व्रतीय प्रतिज्ञा नहीं होती थी।

परन्तु जैन इतिहास में वह समय भी आया जब साधुओं की भांति श्रावकों ने भी एकेन्द्रिय त्याग का रुझान बढ़ाया। उन्हें भी सूक्ष्म अहिंसा की सीमा में प्रवेश करवाया जाने लगा। पन्द्रह कर्मादानों की व्याख्याएं

इस नई विचार धारा की ओर संकेत करती हैं। जब वह विचारधारा आगे बढ़ी तो इसने आगमकारों के मूल आशय को तिरोहित सा कर दिया और उस पर नई परत चढ़ा दी सूक्ष्म अहिंसा की।

प्रस्तोतव्य लेखन का उद्देश्य उस परत के पीछे जाना है। किसी को ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि यह लेखन एकेन्द्रिय हिंसा का समर्थन कर रहा है। परन्तु वास्तविकता यह है कि आगमकारों की मूल भावना जन-2 तक पहुंचे। जैन धर्म की मान्यताएं हौवा न बन जाएं। श्रावक वर्ग अनावश्यक भय और भ्रान्तियों का शिकार न बने तथा पारस्परिक उच्चावचता की अनावश्यक धारणाओं का प्रसार रुके। त्याग प्रधान जैन संस्कृति को त्याग विमुख करना एक अपराध है तो गलत धारणाएं देकर भय से संत्रस्त करके त्याग की ओर उन्मुख करना उससे भी बड़ा अपराध है। इस प्रयास को इसी प्ररिपेक्ष्य में देखा जाएगा तो परम्परा भंग की गन्ध नहीं आएगी।

कर्मादानों का निषेध प्रथमतः इसलिये किया गया था ताकि जैन श्रावक धर्म ध्यान, त्याग तपस्या का पालन करते हुए व्यावसायिक अहिंसा को दृष्टि विगत न कर दें, क्योंकि व्यवसाय के संम्बन्ध में मानव काफी प्रतिबद्ध रहता है। व्यवसाय के ईर्द गिर्द ही गृहस्थ का जीवन घूमता है। वह व्यवसाय से जुड़ी हुई बुराइयों की इसलिए अनदेखी कर देता है क्योंकि वह आय के स्रोतों को बंद नहीं रख सकता है। धनार्जन उसकी मौलिक आवश्यकता है और कभी-2 धनार्जन की प्रकृति कुछ इस प्रकार की हो जाती है कि प्रचुर धन की प्राप्ति हिंसा से ही होती है। यदि हिंसा से बचाव किया जाए तो असत्य, चोरी, दुराचार, माया, छल आदि का सहारा लेना पड़ता है। आगमकारों ने उन सब पाप प्रवृतियों को ध्यान में रखते हुए मुख्य-2 पन्द्रह काम धंधों को चयनित कर दिया। पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने उन काम धंधों की संख्या 15 ही नहीं रखी अपितु सैंकड़ों व्यवसाय इन पन्द्रह कर्मादानों में अन्तर्गर्भित कर दिए। ऐसा करना आवश्यक और उचित तो था पर इस विस्तारीकरण की प्रक्रिया में कुछ सावधानियां छूट गई और कई तरह के असन्तुलन

उभर आए। यथा–

1. एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा को कर्मादानों का आधार माना जाने लगा।
2. छोटे-2 व्यवसाय जो कि बहुत निर्दोष और आर्य कोटि में आने चाहिए थे, उन्हें भी महारंभ कोटि में डाल दिया गया।
3. जो व्यवसाय कालान्तर या स्थानान्तर में विशुद्ध रूप में परिणत हो गए उन्हें कर्मादान वर्ग से बाहर करने का चिंतन प्रारम्भ नहीं हुआ।
4. हिंसा के अलावा धनार्जन के हेतु भूत असत्य, बेईमानी, शोषण, उत्पीड़न आदि पापों के प्रति उपेक्षा पनपने लगी।
5. ब्याज की बड़ी-2 दरों के माध्यम से मजबूर लोगों को लूटने की छूट को अकुंश नहीं लगा।
6. कुछ सफेद पोश धंधों को ही जैनत्व की पहचान बना दी तथा सामान्य और निर्धन लोगों के छोटे-मोटे धंधों को तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाने लगा।

इन चिन्तन बिन्दुओं को स्पष्ट करने की प्रक्रिया अग्रिम पंक्तियों में रहेगी।

1. अंगार कर्म का नाम आते ही सर्वप्रथम भट्ठों का ध्यान आता है। इस व्यवसाय को निषिद्ध करने के पीछे मुख्य उदेश्य यह था कि प्राचीनकाल में बंधुआ मजदूरी इस धन्धे में सर्वाधिक थी। ईंटों को पाथने, सुखाने और पकाने के लिए नियुक्त होने वाले मजदूरों के पूरे परिवार जिन्दगी भर मालिक के गुलाम बन जाते थे। कितनी जगहों पर तो कई-कई पीढ़ियां इस गुलामी से छूट नहीं पाती थी। श्रमिकों के हित में न कोई कानून था न सरकार थी, न कोर्ट कचहरियां थी। नवयुग की औद्योगिक क्रान्ति के 100-200 वर्ष बाद, जबकि श्रम सम्बंधी सैकड़ों कानून बन चुके हैं, बाल श्रम को अवैधानिक घोषित

कर दिया गया है, न्यूनतम वेतन और श्रम-समय निर्धारित हो चुके हैं, ऐसे अनुकूल वातावरण में भी कितनी ही जगह भट्ठों से बंधुआ मजदूरों (Bonded labourers) के शोषण की चर्चाएं सुनने में आती हैं, फिर सैंकड़ों हज़ारों वर्ष पूर्व उन बंधुआ मजदूरों की क्या दुर्दशा होती होगी, कल्पना ही की जा सकती है। उन विकट स्थितियों में जैन धर्म की ओर से मानव जाति के लिये एक दिव्य भव्य मानवतावादी संदेश गया कि जिस कारोबार में श्रमिकों का इतना शोषण होता हो, वह त्याज्य है।

"कंकालों की अतुल राशि पर ये विस्तृत साम्राज्य खड़े हैं।
ये मानव प्रस्तर हैं बुनियादों में भूले त्याज्य पड़े हैं॥"
ये कैसे बादल हैं बरसे, सागर सरसे गागर तरसे।
उस पानी की क्या कीमत है, जो प्यासे के होंठ न परसे॥"

इस मानवता वादी दृष्टि कोण को भुला कर हमारे मध्य युगीन व्याख्या कारों ने केवल अग्नि की हिंसा को महापाप मानकर बात का बतगंड़ बना दिया और सुनार, लुहार, भड़भूजे, हलवाई, रंगरेज, धोबी आदि छोटे-2 अल्प बजट के लोगों की रोजी रोटी को कर्मादान, महारम्भ करार कर दिया। ये सही है कि अग्नि अपने आप में बहुत बड़ा शस्त्र है तथा पुराने भट्टों और आवों का रख रखाव खतरे भरा होता था। उनमें अनजान कुत्ते या बिल्ली या पशु पक्षी गिरकर प्राणों से हाथ धो सकते थे, भट्ठों के कारण पर्यावरण प्रदूषण और परिणाम स्वरूप ग्लोबल वार्मिंग की संभावना बन सकती है। इन कारणों से भले ही भट्ठों का धंधा कर्मादान में परिगणित कर लिया जाए। पर एकेन्द्रिय मात्र की हिंसा के कारण नहीं। वैसे अद्यतन व्यवस्था में भट्ठों में बाहरी पशु पक्षी के घुसने की सम्भावना Zero प्रतिशत है। उनको इतनी बखूबी से पैक किया जाता है कि पशु पक्षी तो दूर, हवा की लहर भी नहीं जा सकती। तथा नूतनतर व्यवस्थाओं में प्रदूषण रोकने का पूरा प्रयत्न किया जाने वाला है। अतः इस व्यवस्था को सदा के लिए कर्मादान नहीं कहा जा सकेगा। उपासक दशांग में सद्दाल पुत्र श्रावक

का व्यवसाय कुंभ निर्माण का है, 500 दुकानों का मालिक है, कितने विशाल पैमाने पर उसका कारोबार चलता होगा। पर उसको महारंभी का खिताब नहीं दिया गया। उच्चकोटि के दस श्रावकों में वह एक है। अंगार कर्म के दायरे को बढ़ा कर छोटे-2 कारोबारियों का लांछित करना तो सत्य के साथ सरासर अन्याय ही है। अधिक खींचतान में तो भोजन पकाना, दर्शनार्थियों के लिए आहारादि की व्यवस्था करना भी वर्जित करना पड़ेगा। दो तीन पीढ़ी पूर्व पर्यूषणों में कत्लखाने बन्द करवाने की मुहिम में कहीं-2 हलवाइयों की दुकानें बन्द करवाने का उल्लेख भी पढ़ने-सुनने में आया है। यह सब कुछ स्वविषय का अतिक्रमण ही प्रतीत होता है।

2. यही दुरवस्था "वनकर्म" की व्याख्या के साथ हुई। बड़े-2 जंगलों में कटान में प्राचीन और अर्वाचीन युग में माफिया गिरोह का कब्जा रहा है। उनका अधिकतर कार्य अवैधानिक होता है। इस व्यवसाय में बंधुआ मजदूरी का व्यापक प्रचलन रहा है और कहीं-2 आज भी प्रचलित है। वनों के कटान में वन्य-पशुओं, वृक्षाश्रित पक्षियों, उनके अण्डों, मधुमक्खी के छत्तों, वनवासी मानव बस्तियों का भयावह विनाश होता रहा है। कटे हुए वृक्षों के लदान के दौरान मनुष्यों तथा पशुओं पर ज्यादती होती है। इस अत्याचार को रोकने के लिए वनकर्म का वर्जन श्रावक के लिए किया गया था। परन्तु व्याख्याकारों की सूक्ष्म दृष्टि यहां तक पहुंची कि सरसों, धान की खेती, चाय, काफी, मेहंदी, फूल फलों के बाग आदि का आरम्भ, समारम्भ कर्मादान के खाते में डाल दिया। कृषि जैसे महा-हिंसा-निवारक आर्यकर्म को भी कर्मादान कहना जैनत्व की उदार दृष्टि के प्रतिकूल ही लगता है। लगता है कि कृषि के खिलाफ तो हमारे कुछ पूर्वाचार्य ज्यादा ही पीछे पड़ गए कि उसे वन कर्म में भी निंद्य ठहरा दिया और फोड़ी कर्म में भी। यदि कृषि न होती तो मानव जाति को अपनी भूख शान्त करने के लिए मांसाहार का सहारा लेना पड़ता, मांसाहार सरीखे महापाप से बचाने का एकमात्र साधन कृषि है और आश्चर्य है कि इसे ही जैन विचारकों ने कर्मादान

कह डाला। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव को कृषि का प्रवर्तक मानने वाली जैन परम्परा आत्मविरोधी भाषा बोलती नज़र आ रही है।

वेदों में भी संदेश है– "अक्षैर्मा दिव्य कृषि मित्कृषस्व" "ऐ युवको पासों से जुआ मत खेलो, बल्कि अपने खेतों को बाहो" रेगिस्तान, पर्वत बहुल, बर्फीले, समुद्रतटीय इलाकों में कृषि नहीं हो सकती थी। अतः उन इलाकों में मानव जाति का भोजन मांस और मछली रहा। केवल मैदानी, जलीय स्रोतों से सम्पन्न इलाकों में खेती की संभावना बनी तथा वहीं शाकाहार का प्रचार प्रसार हो सका। यूरोप, अरब, अमेरिका अफ्रीका आदि द्वीपों और मुल्कों में सहस्राब्दियों तक मांसाहार ही मुख्य भोजन इसलिए रहा क्योंकि तब तक वहां कृषि का प्रचलन नहीं रहा था। आज कृषि बढ़ी है तो शाकाहार के लिए रास्ता भी खुलने लगा है। कृषि के भरोसे ही विश्व का पशुधन भी बच सकता है। अन्यथा उसके खाने के लिये क्या बचेगा? सिन्थैटिक वस्त्र के आगमन से पूर्व वस्त्र की प्राप्ति का साधन भी खेती ही रहा है। अन्यथा मृगचर्म आदि का उपयोग ही एक मात्र विकल्प रह जाता और पशु हत्या का लम्बा सिलसिला जारी होता।

जैन काल व्यवस्था में लिखा जाता है कि पंचम आरे के अंत में जब पृथ्वी की उर्वरता नष्ट हो जाएगी, कृषि और कृषक विदा हो जाएंगे तब मानव जाति मासांहार, मत्स्याहार से ही अपना जीवन यापन करेगी। अवसर्पिणी का छठा, उत्सर्पिणी का प्रथम आरा-42 हज़ार वर्ष का काल कृषि के अभाव में मांस परक रहेगा।

सुख विपाक सूत्र में सुबाहु कुमार के विवाह प्रसंग पर उल्लेख है कि उसे उसके पिता की ओर से 500 ब्रज प्राप्त हुए थे। एक ब्रज में दस हज़ार पशु थे। पचास लाख पशुओं का स्वामी सुबाहु कुमार भी भगवान के चरणों में 12 व्रत ग्रहण करता है। उन पशुओं के भोजन के लिए क्या कृषि नहीं होती होगी। यदि होती होगी तो क्या सुबाहु कुमार के व्रत भंग हो गए होंगे या वह महारंभी, कर्मादानी श्रावक था।

ठीक है कि कृषि में भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की आरंभज हिंसा है। कहीं-2 अविवेक के कारण कीट नाशक दवाओं के प्रयोग से संकल्पज हिंसा भी हो रही है, वह वर्जनीय है, पर पृथ्वी खोदने तथा फसल काटने के कारण कृषि कर्मादान नहीं हो सकती, न वन कर्म के तहत, न स्फोट कर्म के तहत।

3. तीसरे कर्मादान 'साड़ी-कर्म' का शकट कर्म अनुवाद संभवतः व्याकरणानुसार अशुद्ध है। सभी आगमों में शकट के लिए 'सगड़, सगड़ी, सागड़ियो' आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। पर जाने क्यों 'साड़ी-कम्मे' की छाया शकट कर्म स्वीकार कर ली गई। साड़ी कर्म सातन, शाटन कर्म या शाटिका कर्म हो सकता है। "सद्पतोर्डः" आचार्य हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण-4.219 से भी साड़ी शब्द की व्युत्पति होती है जिसका अर्थ होगा = पर्वतादि की शिलाएं नीचे गिराना। चूंकि पुराने युग में राजा महाराजाओं के भवन, पिरामिड आदि को बनाने के लिए विशालकाय शिलाओं को पर्वतों से लाया जाता था। क्रेन आदि मशीने भी नहीं थी। केवल मानव और पशु ही उस सारे काम में लगाए जाते थे। इतिहास में विश्व विख्यात भवनों के निर्माण की अत्याचार पूर्ण कहानियां भी दर्ज हैं। मिस्र के रेगिस्तान में बने बृहदाकार पिरामिड़ों के लिए लाए गए पत्थरों में हज़ारों जाने गई है। गीजा (मिस्र) के रेगिस्तान में कूफू के बादशाह द्वारा बनाए गए 480 फुट ऊंचे पिरामिड के बारे में यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस ने लिखा है कि एक लाख दमित गुलामों के श्रम से 20 साल में वह भवन तैयार हुआ था। मिस्र की जनता उस शासक से इतनी घृणा करती थी कि सदियों, सहस्राब्दियों के बाद तक उसका नाम लेने में पाप समझती थी। उस पिरामिड में 23 लाख पत्थर की शिलाएं हैं और प्रत्येक शिला का औसत वजन 2 या डेढ़ टन है। रेगिस्तान में उन पत्थरों को किस तरह पहुंचाया गया होगा और किस तरह इतनी ऊंचाई तक चढ़ाया गया होगा। ये भी एक दिल दहलाने वाली कल्पना बन सकती है क्योंकि उस युग में पर्वतों को तोड़ने, शिलाओं को ढोने और चढ़ाने के लिए मशीने नहीं

थी। ऐसी स्थिति में पशुओं और मजदूरों के द्वारा ही सब काम लिया गया होगा और उन पर क्या-2 अत्याचार हुए होंगे? उन अत्याचारों को रोकने के लिए भगवान महावीर ने उद्घोष किया और साड़ी-कम्मे द्वारा ऊंचे-पर्वतों पर से शिलाओं को गिराने का काम पाप पूर्ण बताया। वह एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय की अपेक्षा से नहीं, मानवों की अपेक्षा से था। Apte Sanskrit English Dictionary में शाट् धातु का अर्थ दिया गया है— (To fall, throw down, cut down) गिराना, काटकर नीचे लुढ़काना। यदि शाटिका को साड़ी कर्म से सम्बद्ध करें तो रेशमी साड़ी के निर्माण में होने वाला कीड़ों का वध कर्मादान के अन्तर्गत आएगा। वैसे शाटिका शब्द बहुमूल्य वस्त्रों की सभी किस्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'एक साडिय उत्तरासंग' में ऊपर ओढ़े जाने वाले वस्त्र का वाचक बन गया है। पर यहां मुख्यतः हिंसा जन्य वस्त्रों का निर्माण निषिद्ध है। तथा शकट कर्म का जो प्रचलित अर्थ है उसे भी स्वीकृत किया जाए तो ट्रान्सपोर्ट का व्यवसाय पहले युग में पशुओं पर अवलम्बित होने से कर्मादान माना जा सकता है क्योंकि पशुओं के प्रति संवेदन-हीनता इस प्रकार के कार्यों में अक्सर हो ही जाती थी। उन पर अतिभार लादा जाता था, उचित आहार नहीं दिया जाता था, ऋतु अनुसार उनके छाया या धूप का प्रावधान नहीं था, रोग की स्थिति में उपचार नहीं था, चाबुक आदि के प्रहार निरन्तर होते हैं, घावों पर भी पट्टी की बजाय चोट पड़ती थी। उस निर्ममता से मानव को बचाने के लिए शकट कार्य कर्मादान के अर्न्तगत माना जाए, ना कि लकड़ी लोहे के प्रयोग मात्र से। आज के युग में Transportation में पशुओं की हिंसा बिल्कुल नहीं है। अतः इस प्रकार के काम को कर्मादान की Boundary से बाहर निकालना न्यायपूर्ण रहेगा। हां इस व्यवसाय में ड्राइवरों द्वारा मद्यपान, Rash driving से दुर्घटना तथा कुत्ते बिल्ली आदि को कुचला जाना बढ़ता जा रहा है, अतः सावधानी उस मौके पर आवश्यक है, पर पूर्वकाल की अपेक्षा आज शकटकर्म अल्पारंभी हो गया है। शूलपाणी यक्ष का कथानक शकट कर्म की भयावहता का प्रसिद्ध

उदाहरण है। एक धौरेय बैल पांच सौ पंक-मग्न शकटों को खींचता है और अपनी जान जोखिम में डालता है।

4. इसी व्यवसाय से जुड़ा व्यापार 'भाड़ीकर्म' रहा है जहां भाड़े पर पशु दिए जाते थे। कुली, भारवाहकों का प्रबन्ध किया जाता था।

पहाड़ी इलाकों में भारी भरकम सामान को चढ़ाने वाले गरीब लोग आज भी मिलते हैं। तीर्थ दर्शनों के लिए जाने वाले अमीर, धनी वर्ग पालकी में बैठकर प्रभु दर्शन कर लेते हैं पर कहारों पर रहम नहीं करते। टट्टू, घोड़ों पर दया करें, ये तो कल्पना से परे है। पहले कम वेतन अधिक काम, गरीबों का शोषण इतने भयावह स्तर का था कि मानवता बिलख जाती थी, पर अधिक शक्ति सम्पन्न लोगों को दया नहीं आती थी। अधिकाधिक अर्जन की लालसा में धनिक वर्ग साधन हीन प्रजा का दोहन निरन्तर करता था।

केवल कुछ का ही नहीं सखे सुख में ही सबका साझा है,
फिर क्यों कोई भूखा नंगा कोई महलों का राजा है।
है न्याय यही श्रम करो किसी का नहीं छीन कर खाओ तुम।
उन्नति हो जिससे जन-2 की, मानवता ध्वज फहराओ तुम॥

मानव इतिहास में ऐसे स्थान और युग भी अंकित हुए हैं, जब युद्धों में भी भाड़े के लोग एकत्रित किए गए, उन्हें प्रयुक्त किया गया और मरने पर उनके परिवारों को मुआवजा तो दूर, लाश भी नहीं सौंपी गई। आज के युग में कम से कम सभ्य समाजों में जिनमें जैन वर्ग भी सम्मिलित है, ऐसे क्रूर भाड़े का प्रचलन नहीं है, कोई चाहे तो भी चलाना सम्भव नहीं है। ऐसे में कार-रिक्शा, आटो, पोशाक, मकान आदि किराए पर देना कर्मादान नहीं कहला सकता। आजकल तो किराए पर लाखों चीज़े दी जाती हैं अतः मानव और पशु तथा अन्य पंचेद्रिय प्राणियों का शोषण न हो तो इसे कर्मादान से बाहर रखना उचित है।[1]

5. पांचवे कर्मादान 'स्फोट कर्म' का सीधा सा अर्थ है— धमाके

1 *(भाटि— Wages, hire, Rent दिहाड़ी, किराया, वेतन Apte)*

के साथ फटना, फोड़ना, तोड़ना (bursting – बम विस्फोट की तरह)[1] इस काम में पहाड़ों को तोड़ना तथा खानों को फोड़ना सम्मिलित रहा है क्योंकि यह प्रक्रिया काफी संकट पूर्ण और खतरों से भरी होती है तथा पुराने समय में तो मानवों की सुरक्षा के पर्याप्त साधन भी नहीं होते थे। पहाड़ों के विस्फोट के दौरान मजदूरों की जानें प्रायः जाती ही थी तथा खानों में अधिक नीचे जाने पर आक्सीजन, रोशनी आदि का प्रबन्ध भी नही होता था। खानों में कोयला, पत्थर या अन्य खनिज निकालते हुए कोई हादसा हो जाता या मजदूर लोग नीचे दब जाते तो उनको बचाने का न तो कोई उपाय उस युग में था, न दायित्व, न संवेदना। खानों के नीचे मजदूरों को जिस प्रदूषित वातावरण में सांस लेना पड़ता था, उससे उनकी जिंदगी का तन्त्र दुर्बल हो जाता था। उन अमानवीय परिस्थितियों में श्रमिकों को निजात दिलाने के लिए स्फोट कर्म को भगवन्तों ने निषिद्ध किया था। किन्तु हमारे कुछ अत्युत्साही विचारकों ने तो बाल की खाल उतार दी। जमीन जोतना, चने, मूंग की दाल बनाना, धान का छिलका उतारना, न जाने क्या-2, इस कर्मादान की श्रेणी में डाल दिया। एकेन्द्रिय जीवों का चिंतन हमारी मानसिकता पर इतना हावी हो गया कि हमें यथार्थ वस्तु स्थिति दिखनी ही बंद हो गई। पहाड़ों के विस्फोट को क्या पत्थरों की साधारण चिराई से जोड़ा जा सकता है? कुआं बावड़ी बनाना विस्फोट कैसे हो गया, यह समझ से बाहर है। इसके निर्माण की प्रक्रिया में मानव और पशुओं का जीवन किस बिंदु पर आहत होता है, यह भी सोचना चाहिए। कृषि को "फोड़ी कर्म" बताना तो सर्वाधिक हास्यापद है। आज का युग टेक्नालॉजी में इतना विकसित और मानवीय जीवन सुरक्षा के प्रति इतना सावधान सचेष्ट हो चुका है कि पर्वतों के विस्फोट तथा खानों के विस्फोट में भी जन हानि नहीं होने दी जाती। और तो और पर्यावरणीय कारणों से mining के ऊपर हज़ारों तरह की पाबन्दियां भी आज लगाई जा रही हैं, ऐसे में मानव और पशुओं का हनन तो अनुमत हो

---

1 मीमांसकों ने शाश्वत ध्वनि (eternal sound) – को स्फोट कहा है

ही नहीं सकता। यदि यांत्रिक विधि से संवैधानिक मर्यादा में पर्यावरण को नुकसान न पहुंचाते हुए पर्वतादि का; खानों का विस्फोट किया जाता हो और मानवों, पशुओं को कोई खतरा न हो तो इस क्रिया को भी कर्मादान की परिधि से बाहर लाना उचित रहेगा। श्रावक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से भी बचे, ये अच्छा है, पर एकेन्द्रिय-रक्षा कर्मादान का मापदण्ड न बने।

6. दन्त वाणिज्य पर हमारे विचारक काफी संतुलित रहे हैं। इस व्यापार में हाथी दांत के साथ-2 गाय भैंस आदि का चमड़ा, हड्डियां नाखून आदि सम्मिलित करके बड़ा अच्छा विस्तार किया है। जब इन व्यवसायों का Whole Sale में संचालन करना होता है, तब पशुओं को बेरहमी से पकड़ा, काटा, मारा जाता है। इस युग में Mechanical Slaughter houses में इस क्रूरता का प्रत्यक्षीकरण होता है। ऊंट, भेड़, बकरी आदि की ऊन का व्यापार इसके अन्तर्गत न आकर 'केश वाणिज्य' के दायरे का विषय है। वहां भी द्रष्टव्य ये रहेगा कि उन पशुओं पर अत्याचार नहीं होता हो, उनके प्राणों के साथ खिलवाड़ न की जाती हो तो यह कार्य भी कर्मादान नहीं कहलाएंगे।

7. लाक्षा-वाणिज्य को निषिद्ध करने का मुख्य उद्देश्य यह रहा था कि त्रस जीवों की हिंसा रुके। बिहार प्रान्त में इसकी उत्पत्ति मुख्य रूप से होती थी। और लाख कोई वनस्पति उत्पाद न होकर कृमि उत्पाद रहा था। लोध्र के वृक्ष (Butea frondisha) के पत्तों पर Pochoneal Insect को लाखों करोड़ों की तादाद में उत्पन्न कराया जाता था। उस वृक्ष के पत्ते उन लाल कीड़ों से पूरी तरह ढक जाते तो पत्तों को तोड़कर सुखा लिया जाता, फिर कीड़ों सहित उबालकर लाख-लाक्षा (Lac) तैयार होती थी।

आजकल बर्मा मलेशिया में भी इसका प्रचुर उत्पादन होता है। भारत में विशेष रूप से बिहार व झारखण्ड में पलाश और बैर के वृक्षों पर लाख के कीड़ों को पनपाया जाता है। लाख का कीड़ा वृक्ष की शाखा पर अपना स्थान बनाता है और उसी से अपनी खुराक बनाता

है, हज़ारों लाखों कीड़े साथ-2 चिपक जाते हैं और टहनी ढक जाती है। उन टहनियों को काटकर पीस लिया जाता है। लकड़ी बहुल हिस्सा ईंधन के काम आता है तथा दानेदार हिस्से को धोकर पिघलाकर पर्त बनाई जाती है और उसका व्यवसायिक प्रयोग होता है। आजकल एक किलो ग्राम लाख को तैयार करने में लगभग चार लाख कीड़ों की हत्या करनी पड़ती है।

आज के युग में लाख का उपयोग फर्नीचर की पॉलिश करने, पार्सल सील करने, बिजली के उपकरणों के ईन्सुलेशन तथा चूड़ी आदि बनाने में होता है। महाभारत में लाक्षागृह निर्माण की चर्चा मिलती है।

प्रारम्भ में लाख की प्राप्ति सहज़ रूप से रही होगी, पर बाद में मानव ने इसे योजनाबद्ध तरीके से तैयार किया। जैसे कि रेशम के धागे की प्राप्ति करने के लिए रेशम के कीड़ों का मारा जाता है, वैसे ही लाख बनाने के लिए लाख के कीड़ों को जनमाया और मारा जाता है। उन त्रस जीवों की बेशुमार हत्या से बचाने के लिए लाक्षा वाणिज्य को श्रावक के लिए वर्जित किया गया था परन्तु न जाने क्यों फिर इस कोष्ठक में ऐसे व्यापार और सम्मिलित कर लिए गए जिनका इस तरह की त्रस हिंसा से कोई लेना देना नहीं था। मैनसिल, नील, साबुन, सोड़ा, नमक, रंग आदि व्यापार भी वर्जित कर दिए। और मजा ये कि कारण कुछ नहीं बताया गया। इन निर्हेतुक विधि-निषेधों से धार्मिक वर्ग असमाहित अधिक हुआ है, आश्वस्त कम। अतः इस नए परिशिष्ट को छोड़ने में ही जैन धर्मियों की समझदारी है तथा जैनत्व की सुरक्षा भी।

आधुनिक उद्योग जगत ने सिन्थैटिक लाख भी तैयार कर लिया है तथा इसका प्रचलन भी बढ़ता जा रहा है। उस सिन्थैटिक लाख के कारोबार को कर्मादान के अन्तर्गत नहीं रखा जाएगा क्योंकि उसके निर्माण में त्रस जीवों की अन्धाधुन्ध हिंसा नहीं है।

8. रसवाणिज्य में मूलतः शराब निकालने और बेचने को शामिल किया जाता था। शराब निर्माण की प्रक्रिया बहुत अधिक त्रस जीव घातक होती थी। (एक तरह से लाक्षा निर्माण की तरह) मद्य उत्पादक

पदार्थों के गलाने में, सड़ाने में बहुत संख्या में जीवों की उत्पत्ति होती थी। उन्हें जीवित हालत में उबाल लिया जाता था। अतः मदिरा उत्पादन महान हिंसामय होने से श्रावक के अनुकूल नहीं था तथा मद्यपान करना, करवाना, उससे अपनी आजीविका चलाना श्रावक के लिए अशोभनीय भी था। इस शब्द का विस्तार किन्हीं अर्थो में तो बहुत अच्छा हुआ पर कुछ अनावश्यक खींचतान भी हुई, जैसे कि शराब के साथ मांस, चर्बी और कुछ अंशों में शहद का धंधा रस वाणिज्य के अन्दर डाल दिया। यहां तक तो ठीक था पर दूध, दही, घी तेल, मक्खन और कहीं-2 गुड़ शक्कर भी इसमें सम्मिलित कर लिए गए जो कि कथमपि रस वाणिज्य के अंग नहीं थे। शहद की नूतन उत्पादन प्रक्रिया बहुत कर अहिंसक है। शहद उत्पादक किसान डिब्बे बन्द छत्तों में मधुमक्खियों का पालन पूर्ण देखभाल के साथ करते हैं। प्राकृतिक रूप से कोई मधुमक्खी मर जाए तो बात अलग है अन्यथा अपनी ओर से वे एक-2 मक्खी को बचाने का उतना ही प्रयत्न करते हैं जितना ग्वाला गाय और भैंस को।

पुरानी मदिरा निर्माण प्रक्रिया में गुड़ प्रयुक्त होता था आजकल तो Sugar factory के Molasses से ही शराब बनाई जाने लगी है, और भी बहुत सी प्रक्रियाएं हैं, पर इतने मात्र से गुड़ शक्कर का व्यापार कर्मादान नहीं बन सकता।

9. विष-वाणिज्य में जीवों के घातक प्रत्येक द्रव्य को गिनना चाहिए, हां, बिना लाइसेंस की बन्दूक, कटार आदि का धंधा भी इसके साथ जोड़ना अच्छा लगता है। क्योंकि जैसे विष से मानववध हो सकता है, ऐसे ही इन हथियारों से भी। आत्म हत्या में भी ये शस्त्र निमित्त बन सकते हैं। विष और शस्त्र यहां समानार्थक माने हैं। चूहेमार गोलियां, गर्भपात की दवाएं, कीटनाशक पाऊडर विष वाणिज्य के हिस्से हैं पर कुदाली, हल-फावड़े आदि कृषि उपकरणों को इसके साथ जोड़ना वाजिब नहीं है।

10. केश-वाणिज्य में वही व्यापार लिया जाए जिसमें पशु या मानवों का जीवन पीड़ित या नष्ट हो जैसा कि चंवर बनाने के लिए

'चमरी गाय की पूंछ काटी जाती है, कस्तूरी पाने के लिए मृग विशेष की नाभि (Musk deer) को काटना पड़ता है। फर के कोट, पर्स, टोपी के लिए Seal (सील) नामक बर्फीले पशु की खाल उतारी जाती है। यदि किसी व्यवसाय में सिंथेटिक केश प्रयुक्त किए जाते हैं तो वे केश वाणिज्य होते हुए भी कर्मादान नहीं है क्योंकि उनमें किसी की जिन्दगी नहीं ली गई।

11. यंत्र पीलन को निषिद्ध करने के पीछे भी आगमकारों का उद्देश्य पशु यंत्रणा से छुटकारा दिलाना था। पूर्व काल में छोटे या बड़े सभी यंत्र बैल, महिष आदि द्वारा संचालित होते थे। फिर उन पर रहम करने की किसको सूझती। मानव निज स्वार्थों के आगे पशुओं के आराम को क्या तरजीह देता? पर जैन धर्म ने उसके सुख और आराम की ओर ध्यान खींचा। पर इस मुद्दे पर फिर पूर्व चिन्तकों ने ज्यादा ही कलम चला दी। तिल, सरसों, गन्ने के कोल्हू, Tube well, फैक्टरियां, आरा मशीन आदि न जाने आजकल की हर मशीन को निषेध के घेरे में घेर दिया। आजकल प्रायः सभी मशीनें बिजली द्वारा चलाई जाती हैं। पशु तो आज के यन्त्रों से असंबद्ध हो ही रहे हैं। मानव भी automatic तथा Computerised फैक्ट्रियों में अनुपयोगी से हो गए हैं। उस दृष्टि से बड़ी मिलें कारखाने बुरे नहीं हैं। पर यदि उनमें श्रमिकों के साथ अन्याय होता हो, उन्हें स्वास्थ्य-घातक स्थितियों में रखा जाता हो, पूरा वेतन नहीं दिया जाता हो, तो वे कर्मादान गिने जाएं तथा उन फैक्ट्रियों से जहरीले Chemical निकालकर जल या वायु को जहरीला बनाते हुए मानव जीवन के लिए घातक बनते हो तो भी वे कर्मादान वत् वर्जनीय हैं। आजकल के औद्योगीकरण में यंत्र शब्द मात्र को लेकर हो हल्ला बाबेला मचाना बंद होना चाहिए।

12. 13. 14. 15. क्रम पर आए निर्लाछंन कर्म, दवाग्नि-दापनता, सरोवर शोषण, असज्जन पोषण की व्याख्याएं प्रायः ठीक मिलती हैं क्योंकि इनमें मुख्यतया त्रस प्राणियों का उत्पीड़न और वध भी उभारा गया है। यदि स्थावर का उल्लेख भी हुआ है तो गौण रूप

से। तथा राष्ट्रीय सामाजिक सदाचार की सुरक्षा को खण्डित करने वाले, दुराचार वर्धक धन्धे भी वर्जनीय हैं। यह प्रतिपादन जैनत्व को गरिमापूर्ण स्थान दिलाता है। निर्लाछंन क्रिया पशुओं पर अत्याचार का भयावह रूप था। बैल, भैंसा तथा अन्य पशुओं को पालतू बनाने तथा उन से काम लेने के लिए उन्हें नपुंसक बनाया जाता था। उस प्रक्रिया में उनके गुप्तांगों-अण्डकोषों को किसी यन्त्र आदि से कुचला जाता था, पशु भीषण यातना से गुजरता था। ऐसी निर्मम क्रिया को भगवान ने निषिद्ध किया। बैल के नाक में नाथ डालते समय, ऊंट को नकेल डालते हुए, घोड़ों को तनाल (खडताल) लगाते समय यदि अत्यधिक यातनाएं दी जाती हों तो कर्मादान बनेगा और अत्यधिक पीड़ा की संभावना न हो तो कर्मादान नहीं है। इसमें ये ध्यातव्य है कि केवल अपने घरेलू उपयोग के लिए एक दो पशु को निर्लाञ्छित किया, करवाया जाए तो कर्मादान नहीं होगा। कर्मादान तो व्यवसाय के रूप में अपनाने पर कहलाएगा। आधुनिक शल्य चिकित्सा में Sterlization की पद्धति विकसित हुई है जिससे पुरुष या नारी की प्रजनन प्रक्रिया अवरूद्ध की जाती है। लेकिन वह अत्याचार, पीड़ा रूप नहीं होने से कर्मादान नहीं है। इसी पद्धति का आश्रय लेकर आवारा कुत्तों की संख्या वृद्धि रोकने हेतु Sterlizatoin किया जा रहा है, वह भी सदोष नहीं माना जाएगा

दवाग्नि दाह से वन्य पशु-पक्षियों का अनियन्त्रित विनाश हो जाता है इसलिए ये वर्जित हैं। सरोवर-झील आदि सुखाने में, भराव करने में हज़ारों लाखों जल जन्तु, मछली, कछुए, ग्राह, मकर आदि का वध होता है, इस कारण ये व्यवसाय भी धर्म विरूद्ध हैं।

असती जन पोषण व्यवसाय के माध्यम से कुछ लोग अनैतिक दुराचार पूर्ण कार्य करवाते रहे हैं। इस व्यवसाय में बालक बालिकाओं की कोमल भावना, निर्धनता, विवशता आदि का शोषण होता है। माफिया गिरोहों के सरगना लोग, गुण्डों का संरक्षण करके अपनी दादागिरी चलाते हैं यह भी मानव समाज के प्रति घोर अन्याय है, अतः

वर्जनीय है। संसार तेजी से बदल रहा है, व्यवसाय भी तेजी से बदल रहे हैं। इस तेज़ प्रक्रिया में नया तत्व उभरकर सामने आया है— भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि। जैनों को इन पर पाबन्दी लगाने की पहल करनी चाहिए। इन्हें कर्मादान घोषित करके बहिष्कृत करने का साहस करना चाहिए ताकि भगवान महावीर का मौलिक भाव पूरा हो सके। जैनों की प्रतिष्ठा का ग्राफ बहुत ऊंचा नहीं रहा है। इनके व्यापारों में मिलावट, बेईमानी, झूठ, चोरी ऊंची ब्याज खोरी का प्रतिशत नार्मल (Normal) से ज्यादा पाया गया है। काफी आर्थिक अपराधों में जैन संलिप्त पाए गए और प्रमाणित हुए हैं। आवश्यकता है इस अप्रतिष्ठा के दाग को भी जैन समाज धोए तथा गुरुजन भी इस दिशा में मार्गदर्शन करें।

इस्लाम ने विश्व के सामने अद्भुत कदम उठाया था तथा सूद खोरी को इस्लाम से निकाल फैंका था। जैन समाज इतनी सीमा तक नहीं जा सकता तो कोई बात नहीं पर बड़ी-2 दरों पर सूद (ब्याज-Interest) लेने पर तो धार्मिक और सामाजिक पाबन्दी लगानी ही चाहिए। दक्षिण भारत में Pawn brokers गिरवी का धन्धा करने वालों में भी जैनों की खासी संख्या है और अधिकांश व्यापारियों का धंधा मानवीय शोषण का घृणित नमूना है।

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
मां की गोदी में चिपट जहां जाड़े की रात बिताते हैं॥
नारी का लज्जा वसन बेच जहां ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

एकेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा को साधु-साध्वी के साथ रहने दें। गृहस्थ से उसे जबरन न जोड़ा जाए तो अच्छा है क्योंकि वह स्थूलता के धरातल पर जीता है। बड़ी विचित्रता प्रतीत होती है तब जब सत्य-अस्तेय के स्थूल स्तर को भी दर किनार करने वाले श्रावक अहिंसा के मसले में सूक्ष्मता की राह पकड़ लेते हैं। दूसरे शब्दों में अहिंसा की सूक्ष्मता में जीने वालों के पास सत्य-अस्तेय का स्थूल रूप भी नहीं मिलता।

कदम-2 पर, बात-2 में असत्य और बेइमानी करने वाले श्रावक अहिंसा के मामले में इतनी बारीकी तक पहुंच जाते हैं कि देखने वाला चक्कर खा जाता है। इस विषमता को दूर करके अपने-2 स्तर पर जीने में निश्चय और व्यवहार धर्म का निर्वाह होगा। जैन आगमों में, विशेषतया कथानुयोग भाग में झांक कर देखें तो लगता है कि आगमकारों ने सूक्ष्म अहिंसा के विषय को सामान्य श्रावक से जोड़ा ही नहीं। तीर्थंकरो के अभिषेक पर विश्व के सब तीर्थों का पानी लाया और बहाया जाता है। दीक्षा प्रसंगों पर, चाहे किसी की भी हो, सारी नगरी में छिड़काव होता है, सिंचाई होती है, फूलों के ढेर लगाए जाते हैं, झण्डे लहराए जाते हैं, बाजे बजाए जाते हैं। तीर्थंकरो के दर्शन के लिए जाने वाले अधिकांश व्यक्ति नहा-धोकर सज-धजकर फूलों की माला पहनकर जाते हैं। किसी श्रेष्ठी के भवन का चित्रण हो या राज महल का, धूप अगरबत्ती की भव्य गन्ध, पुष्प, शृंगार, मणिरत्नों की सजावट का निराला चित्रण मिलता है। सैंकड़ों स्थलों पर स्थावर कार्यों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। क्या ऐसी जीवन शैली में श्रावक-श्राविकाओं से भगवान अपेक्षा करते कि वे अपने व्यवसाय से एकेन्द्रिय जन्य हिंसा को दूर करें। वस्तुतः सूक्ष्म अहिंसा को श्रावकों का मूल विषय ही नहीं रखा। जिन जीवों की जीवन्तता को मानने के लिए सर्वज्ञों पर श्रद्धा ही आधार हो, या वैज्ञानिकों के विकसित उपकरणों का सहारा लिया जाता हो, सहज बुद्धि जिन्हें जीव मान ही नहीं सकती, उनकी रक्षा के लिए श्रावक बाध्य नहीं है। आचारांग के प्रथम अध्ययन में पृथ्वी, जल अग्नि और वायु की विराधना का साधु वर्ग के लिए निषेध करते हुए इनसे संबद्ध त्रस हिंसा का हवाला दिया है अन्यथा सीधे तौर पर तो इनकी हिंसा छोड़ना भी अबुद्धि गम्य बन जाता। संति पाणा पुढो सिया (पृथ्वी पर, पृथ्वी के अंदर त्रस जीव भी बहुत होते हैं) संति पाणा उदय निस्सिया जीवा वियाहिया (पानी के अंदर अनेक चलते फिरते प्राणी होते हैं) "(संति पाणा पुढवि निस्सिया, तण निस्सिया, पत्त निस्सिया, कट्ठ निस्सिया, गोमय निस्सिया, कयवर निस्सिया, संति

सम्पातिमा पाणा आहच्च संपयंति य अगणिं य खलु पुट्ठा एगे संघाय मावज्जंति)"

अग्नि जलाने के लिए मिट्टी, तिनकों पत्तों लकड़ियों, गोबर, कचरे में रहे हुए त्रस जीव भी मर जाते हैं, आकाश में उड़ने वाले छोटे-2 जीव भी सम्पर्क पाते ही झुलस जाते हैं, मर जाते हैं। वायु की तीव्रता में भी उड़ने वाले पतंगे, पक्षी मर जाते हैं। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की हिंसा साधु को नहीं करनी चाहिए।

केवल वनस्पति काय के जीवों की जीवन्तता के लिए आचारांग में वैज्ञानिक विधि से प्रतिपादन दिया है। बाकी चार की रक्षा के लिए तो त्रस हिंसा का हवाला देना पड़ता है। जब मुनियों के लिए इतनी सावधानी आगम कारों ने रखी है तो आधुनिक चिंतको को श्रावकों के लिए भी रखनी चाहिए। उनके कामों को त्रस की तुला से ही तोलें स्थावर की तुला से नहीं।

पृथ्वी, जल आदि के प्रयोग के समय गृहस्थ उपयोगिता को ही ध्यान में रखता है। उनके प्रति क्रूरता निर्दयता का भाव उत्पन्न नहीं होता। पशुओं के प्रति वह क्रूर और निर्दय हो सकता है। मनुष्यों के प्रति क्रूरता, निर्दयता के साथ द्वेष और शत्रुता भी रख सकता है। हिंसा का स्वरूप क्रूरता, शत्रुता आदि मानसिक दोषों से जुड़ा हुआ अधिक है और इस दिशा में श्रावकों को बचना और बचाना है। एकेन्द्रिय की हिंसा महारंभ न होकर अल्पारम्भ में गिनी गई है। हमें अपनी धारणाओं पर पुनः पुनः विचार करते रहना होगा अन्यथा कई आवश्यक तत्व निष्कासित हो जाएंगे।

पुनः निवेदन है कि उपर्युक्त विचारों को सकारात्मक सही परिप्रेक्ष्य में लें, किसी के विरोध के रूप में नहीं।